हर वृक्ष महाबोधि नहीं होता

महेन्द्रकुमार



आज संपूर्ण संसार के हालात के मद्देनज़र यह कहना कि आज के मनुष्य का जीवन अपनी धुरी पर से खिसक-सा गया है, अत्युक्ति नहीं होगी। इसलिए उसकी ही नहीं, बल्कि संपूर्ण पृथ्वी के अस्तित्व की नौका भौतिकता के भँवर में पड़कर डगमगा रही है। आज के मनुष्य का 'बाह्य' चाहे जितना साधन-संपन्न, समुन्नत और सुखमय दीख रहा है, दरअसल, उतना है नहीं। उसका अंतर उतना ही दारिद्रययुक्त, पतित और दुखमय हो गया है। कहा जाए कि वह पूरी तरह खोखला हो गया है, वह अपनी असली पहचान भुला बैठा है।

जीवन की शाश्वतता को आज तक नकारा नहीं जा सका है। भले ही परिस्थितियाँ बदलती रहीं, परिवेश बदलते रहे; और बदतले रहे जीवन के प्रतिमान तथा जीवन के प्रति दृष्टिकोण भी। मुझे यह स्वीकार है कि समय-समय पर प्रतिमान बदलने चाहिए, लेकिन जीवन के प्रति दृष्टिकोण ही बदल जाए, यह मेरे गले के नीचे नहीं उतरता।

भौतिकता की चकाचौंध में पड़कर उसने अपने मन की आँखों की रोशनी गँवा दी है। अंधे की भाँति दिशाविहीन हो जीवन-पथ पर भटक सा गया है। अपने छोटे से व्यक्तिगत जीवन में मैंने बड़ी शिद्दत से यह महसूस किया है कि आज भी जीवनमूल्यों को अपनाए बिना इस भटकाव के दलदल से बाहर नहीं निकला जा सकता है। भले जीवनमूल्यों को अपनाकर जीवन जीने वालों यह संसार मूर्खों की श्रेणी में क्यों न रखे। मैं अपनी आस्था के दीपक को गीत गाकर जलाए रखना चाहता हूँ।

भाई अग्निशेखर जी को
सस्नेह
महेन्द्र कुमार
2/4/16

तमिलनाडु हिंदी साहित्य अकादमी, चेन्नई द्वारा
मौलिक लेखन हेतु वर्ष २०१५ के
सुजान कौस्तुभमणी पुरस्कार से सम्मानित पुस्तक

आज संपूर्
मद्देनज़र
मनुष्य का
खिसक-सा
होगी। इसलि
संपूर्ण पृथ्वी
भौतिकता के
रही है। आज
जितना साध
सुखमय दीख
है नहीं।
दारिद्रययुक्त,
गया है। कह
खोखला हो
पहचान भुला
जीवन की
नकारा नहीं
परिस्थितियाँ
बदलते रहे;
प्रतिमान तथ
भी। मुझे य
समय पर
लेकिन जीव
बदल जाए,
उतरता।

भौतिकता
उसने अपने
गँवा दी है।
हो जीवन-
अपने छोटे
बड़ी शिद्द
कि आज
बिना इस
नहीं निक
जीवनमूल्य
वालों यह
न रखे। मैं
गीत गाकर

हर वृक्ष
महाबोधि नहीं होता

महेंद्रकुमार

जन्म : 2 जनवरी, 1963, दाउदनगर, औरंगाबाद (बिहार)

शिक्षा : एम.ए. (हिंदी), बी॰एड्॰ (भागलपुर विश्वविद्यालय)

संप्रति : केंद्रीय विद्यालय सी॰एल॰आर॰आई॰ में हिंदी शिक्षक के रूप में कार्यरत।

प्रकाशन : केंद्रीय विद्यालय संगठन द्वारा प्रकाशित पत्रिका 'संगम' तथा 'काव्य मंजरी' में कविताओं का प्रकाशन, 'अध्यात्म शिक्षा का अनिवार्य अंग' में निबंध का प्रकाशन, आकाशवाणी चेन्नै से कहानियों तथा कविताओं का प्रसारण, 'साँवली' में कविता प्रकाशन।

संपादन : जनमत

पुरस्कार : वर्ष 2002 में स्कॉलेस्टिक इंडिया लिमिटेड द्वारा 'मैंने शिक्षक बनना क्यों चुना' निबंध पुरस्कृत।

पता : ओल्ड नं॰ 14/ब, न्यू नं॰ 33, फर्स्ट स्ट्रीट, भारती एवेन्यू, कोट्टूर, चेन्नै 600085

दूरभाष : 09962882549

हर वृक्ष महाबोधि नहीं होता

महेंद्रकुमार

हिंदी साहित्य निकेतन, बिजनौर (उ०प्र०)

ISBN 078-93-80916-10-1

प्रकाशक : हिन्दी साहित्य निकेतन
16 साहित्य विहार
बिजनौर (उ०प्र०)
फ़ोन : 01342-263232, 0124-4076565
ई-मेल : giriraj@hindisahityaniketan.com
वैब साइट : www.hindisahityaniketan.com
टाइप सैटिंग : अनुभूति ग्राफिक्स, बिजनौर (उ०प्र०)
आवरण : अनुभूति
मुद्रक : आदर्श प्रिंटर्स, दिल्ली 32
संस्करण : प्रथम 2011
मूल्य : दो सौ रुपए

HAR VRIKSH MAHABODHI NAHI HOTA BY MAHENDRA KUMAR
Rs. 200.00

समर्पण

मेरा यह प्रथम प्रयास
जीवन में आए उन सभी उदीयमान छात्रों को समर्पित है
जो मेरे लिए पावन प्रेरणा–स्रोत रहे।

दो शब्द

आज संपूर्ण संसार के हालात के मद्देनज़र यह कहना कि आज के मनुष्य का जीवन अपनी धुरी पर से खिसक-सा गया है, अत्युक्ति नहीं होगी। इसलिए उसकी ही नहीं, बल्कि संपूर्ण पृथ्वी के अस्तित्व की नौका भौतिकता के भँवर में पड़कर डगमगा रही है। आज के मनुष्य का 'बाह्य' चाहे जितना साधन-संपन्न, समुन्नत और सुखमय दीख रहा है, दरअसल, उतना है नहीं। उसका अंतर उतना ही दारिद्रययुक्त, पतित और दुखमय हो गया है। कहा जाए कि वह पूरी तरह खोखला हो गया है, वह अपनी असली पहचान भुला बैठा है।

जीवन की शाश्वतता को आज तक नकारा नहीं जा सका है। भले ही परिस्थितियाँ बदलती रहीं, परिवेश बदलते रहे; और बदतले रहे जीवन के प्रतिमान तथा जीवन के प्रति दृष्टिकोण भी। मुझे यह स्वीकार है कि समय-समय पर प्रतिमान बदलने चाहिए, लेकिन जीवन के प्रति दृष्टिकोण ही बदल जाए, यह मेरे गले के नीचे नहीं उतरता। मेरे ही क्यों, किसी के गले भी नहीं उतर सकता। इसी बदलाव के कारण वह मनुष्य का मात्र पुतला बनकर रह गया है–

आज का मनुष्य भले ही
पहुँच चुका हो चाँद पर,
या उतर चुका हो समुद्र की
अतल गहराइयों में,
लेकिन इंसान के साथ
कंधे से कंधा और
क़दम से क़दम मिलाकर चलना भूल गया है....

भौतिकता की चकाचौंध में पड़कर उसने अपने मन की आँखों की रोशनी गँवा दी है। अंधे की भाँति दिशाविहीन हो जीवन-पथ पर भटक सा गया है। अपने छोटे से व्यक्तिगत जीवन में मैंने बड़ी शिद्दत से यह महसूस किया

है कि आज भी जीवनमूल्यों को अपनाए बिना इस भटकाव के दलदल से बाहर नहीं निकला जा सकता है। भले जीवनमूल्यों को अपनाकर जीवन जीने वालों यह संसार मूर्खों की श्रेणी में क्यों न रखे–

जीवन मूल्यों को
अपनाकर जीवन जीने वाले को
अव्वल दर्जे का मूर्ख समझा जाता है।

लेकिन मैं अपनी आस्था के दीपक को यह गीत गाकर जलाए रखना चाहता हूँ–

आओ गीत प्यार का गाएँ हम।
ज्ञान, दया और करुण भाव से
इस जीवन को सजाएँ हम।

कहते हैं हर प्रकार के अभाव को पूरा करने के प्रयास में मनुष्य जब जी-जान से भिड़ जाता है तो उस अभाव को दूर कर ख़ुशियाँ बटोर ही लेता है। इसलिए उन शाश्वत जीवनमूल्यों के अभाव को आज दूर करने के लिए हमें अपनी इच्छाशक्ति को दृढ़तम करना ही पड़ेगा और प्राणपण से भिड़ जाना होगा। एक नन्हे दीपक की भाँति अंधकार के साम्राज्य को चीरकर रोशनी फैलाने का दुस्साहस करना ही होगा। जैसे वह नन्हा दीपक हवा के झोंके से बुझने की परवाह किए बिना अपनी ताक़त-भर रोशनी फैलाता रहता है वैसा ही प्रयास हमें भी करना पड़ेगा। हमारे लिए कुछ भी असंभव नहीं है। मनुष्यता के कल्याण के लिए हमें अपनी इच्छाशक्ति को हिमालय की तरह अटल करना होगा। हमें सपने देखने होंगे, उन्हें ठोस विचार में ढालकर कार्यरूप देना पड़ेगा।

सपने जब-जब देखे हैं हमने/ कर डाला है तब-तब/ असंभव को संभव/ खड़े हो गए शिखर पर हिमालय की हम.....और फहराई विजय-पताका अपनी/ दिखा दिया जगत को हमने/ ताक़त पैरों और हाथों में नहीं/जज़्बातों हौसले देती हैं और/ यदि हौसले हों हृदय के मजबूत/ तो हम सीख जाते हैं/ छूना ऊँचाई आसमान की......

अति बौद्धिकता के कारण आज समाज में जो संवेदनशून्यता का वातावरण बन गया है, उनके कारणों की तलाश करता मेरा कवि जीवनमूल्यों को पुनर्प्रतिष्ठित करने की लालसा लिए अपनी कविताओं का सृजन करता है।

'हर वृक्ष महाबोधि नहीं होता' मेरा प्रथम काव्य-संग्रह है, जिसमें

लगभग पिछले दो दशकों की कविताएँ सम्मिलित हैं।

आध्यात्मिकता को जीवन का सार मानकर आदर्श जीवन की प्रतिमूर्ति अपने स्वर्गीय माता-पिता की असीम प्रेरणा और आशीर्वाद का ऋणी हूँ, जिसके कारण आज प्रथम काव्य-संग्रह आपके सामने प्रस्तुत कर पा रहा हूँ। इस संग्रह के प्रकाशन हेतु लब्धप्रतिष्ठ साहित्यकार डॉ॰ गिरिराजशरण अग्रवाल के प्रति आभारी हूँ, जिन्होंने एक छोटी सी मुलाक़ात में ही इसे प्रकाशित करने का अनुरोध स्वीकार कर मेरी काव्य-प्रतिभा को प्रोत्साहित करने की महती कृपा की है। मैं अपने बेटे ऋषभ और बेटी ऋषिका को भी विस्मृत नहीं कर सकता, जिन्होंने इसे कंप्यूटर द्वारा टाइप करने का गुरुतर दायित्व निभाया है। अपनी सहधर्मिणी सुमन की अथक् प्रेरणा से ही पिछले दो दशकों में लिखी, परंतु इधर-उधर बिखरी कविताओं को सहेजना संभव हो पाया। उनकी इस भूमिका की सराहना शब्दातीत है।

ओल्ड नं॰ 14/ब, 33 पहली गली
भारती एवेन्यु
कोट्टूर, चेन्नै 600085

महेंद्रकुमार

अनुक्रम

डर	13
प्रतीक्षा	15
प्रार्थना	16
मैं ख़ामोश तुम्हें देखता रहूँ!	18
मातृ-दिवस	20
रास्ते का पत्थर	21
गुलाब	22
चाहत	23
अंतर्दृष्टि	24
मेरी आवाज़	25
काल	26
धूल	27
भविष्य	28
भावना	31
महत्त्व	32
भा गया मुझे भी	33
विडंबना	35
एक अजीब सवाल	36
विचित्र रिश्ता	38
बंधन में जीवन	39
वह जंगल ही भला था	42

वह जंगल ही भला था	42
हसरत	45
तुम भी रहो तैयार	48
अतीत का गुणगान	49
अनंत संभावनाओं से युक्त	51
आज की दुनिया	53
ज़िंदगी	55
तलाश रौशनी की	56
जानते हो?	58
भावी संतति का पथ	60
खेल नियति का	62
नए युग की संरचना	65
पल-पल खुशी के क्षण	66
बिखरकर पसर जाएँगे	67
सावधानियों के बावजूद	68
आ मेरे मन	69
बदल के छोटे-छोटे टुकड़े	70
भय का भूत	71
अनोखा दस्तूर	72
हर वृक्ष 'महाबोधि' नहीं होता	74
सपनों से बनते हैं सपने	77
प्रकृति और मनुष्य	79
शक्तिहीन शब्द...	81
फ़र्क	82
सार्थकता	83
अस्था	85
अलविदा	87
महाविनाश	89

रिश्ता	93
यह कैसा सन्नाटा है	94
गीत प्यार के गाएँगे	96
शब्द	98
ज़रा सोचो	99
कंकाल में लगी आँख	100
जिन्हें रोश है	101
सृष्टि का श्रृंगार	104
भागीरथी	106
आत्मबोध	108
दौड़ जारी रहेगी	110
चिड़िया की औक़ात	113
ग़रीब आदमी का दर्द	115
एक तारा आकाश में	117
अकिंचन	118
स्नेह तो डालने दो	119
मिठास की चाह	121
मेरा चाँद तो दरवाज़े के पीछे बंद है	122
ज़िंदगी कभी नहीं हारती	123
आँसुओं की भाषा	124
नियति	126
दुःख या सुख	127
गीत प्यार का गाएँ हम	128

डर

मेरे पास न धन-दौलत है,
और न ख़ूबसूरत शरीर,
है तो मेरी निहायत,
सच्ची कोमल भावनाएँ,
और शाश्वत प्रेम
जिन्हें मैं उसे देने से डरता हूँ।

भावनाएँ और प्रेम तो
उसके पास भी हैं, और हैं
बेहद ख़ूबसूरत यादें
जिन्हें अपने दिल में सँजोए
विरासत बना चुकी है वह
यादों के रूप में उस विरासत का
अभिन्न हिस्सा बनना चाहता हूँ।
पर यादों का वह रूप
उसे देने से डरता हूँ।

आत्मा की गहराइयों से
ढूँढ कुछ शब्दों के मोती
उसके सामने बिखेरना चाहता हूँ
पर क़िताबों की दुनिया में डूबी वह
उन शब्दों के मर्म तक
पहुँचना नहीं चाहती

मेरी आत्मा के शब्द
किताबी न समझ लिए जाएँ
यह सोच उन शब्दों को
कहने से डरता हूँ।

कौन है आज
जो करता है सहसा आदमी का विश्वास?
आज आदमी का सच तो
हाथी के दाँत की तरह हो गया है,
लेकिन मैं आदमी नहीं, इंसान के रूप में
आना चाहता हूँ उसकी नज़रों की परिधि में
किंतु आदमी न समझ लिया जाऊँ,
इसलिए उसके सामने
आने से डरता हूँ।

कहते हैं, महत्त्व यदि बूँद को दिया जाए
तो पहले गागर, फिर नदी,
और अंत में सागर बन जाता है,
सागर को सूरज की गर्मी
कभी सुखा नहीं सकती।
वह सागर की तरह
वजूद रखती है मेरे लिए
किंतु सूख न जाऊँ बीच में ही कहीं
इसलिए बूँद बन
उस तक पहुँचने से डरता हूँ।

प्रतीक्षा

जीवन की अनंतता में
कहाँ है मेरी स्थिति
जानना चाहता हूँ मैं।
यह समग्र जो पसरा है
मेरे समक्ष–
पूर्ण तथा समर्थ है।
मैं भी संपूर्ण सद्भाव
और विस्तार–सहित
प्रकृति की हर इकाई के साथ
संबंधों का संतुलन बनाना चाहता हूँ।
इसलिए अपने होने के बोध–सहित
बहाना चाहता हूँ
प्रेम की सरिता जीवन की सतह पर
जिसमें डुबकी लगाने की
ज़रूरत न केवल मुझे
वरन् सभी को है
सृष्टि का हर कण
अपने हृत्कोष में छिपे
उस प्रेम–दीप को
प्रज्वलित करने के लिए
एक अगन चिंगारी की
प्रतीक्षा है मुझे।

प्रार्थना

दूर गगन में
झिलमिलाता सितारा
यद्यपि नन्हा-सा है
पर मेरी आँखों में बस चुका है।
भव-सागर में पड़ी
मेरी यह लघु जीवन-नौका
जिस पर सवार मैं
हाथों में टूटी पतवार लिए
इसी नन्हे सितारे की रोशनी से
दिशा-निर्देश पाकर तट को
छूना चाहता हूँ।

पर नहीं मालूम क्यों
एक भयानक अंधकार
छाने लगा है
और दूर झिलमिलाते तारे की रोशनी
पड़ने लगी है मद्धिम।

हे ईश्वर!!!
नहीं दे सकते सूरज की रोशनी
तो वंचित भी मत करो मुझे
उस नन्हे सितारे की

झिलमिलाती रोशनी से
जिसके सहारे
पहुँच सकता हूँ मैं
अपनी मंज़िल पर
और खिंच सकती है
मुस्कान की एक रेखा
मेरे जीवन में भी।
जीवन-सागर की
अनुलंघ्य लहरों और
भयानक झंझावातों से घिरे
घोर अंधकार से जूझने की
शक्ति से
मुझे वंचित मत करो।
इस नाविक को पार लगाने
भले ही तुम स्वयं मत आओ
पर शीतल दृष्टि की बरसात
ज़रूर करो...

मेरे मार्ग-दर्शक तारे को
मुझसे अलग मत करो।

मैं ख़ामोश तुम्हें देखता रहूँ!

मैं मिलना चाहता हूँ तुमसे
कब, कहाँ और कैसे नहीं जानता?
तुम भी तो नहीं जानतीं।

कल्पना की चिंगारी बनकर
रहस्यमय शब्दों के माध्यम से
सामने फैले सफ़ेद कैनवास पर
अभिव्यक्ति पाना चाहता हूँ
ताकि ख़ामोश तुम्हें देखता रहूँ।

या सूरज की किरण बनकर
बिखरना चाहता हूँ
तुम्हारे जीवन-पथ पर
ताकि बढ़ सको तुम
अपनी मंज़िल की तरफ़
तुम मंज़िल पर पहुँच इठलाओ
और मैं ख़ामोश तुम्हें देखता रहूँ।

या पहाड़ी झरने की तरह
ऊँचे से गिरकर गाता रहूँ प्यार का गीत

जिसे तुम मेरे सामने खड़ी सुनती रहो
और तुम भी अपने हृदय से
कभी न ख़त्म न होनेवाला गीत
गुनगुनाने लगो
और मैं ख़ामोश तुम्हें देखता रहूँ।

मैं तो अँधेरे से निर्मित हूँ
तुम दीप बन तेरे तट पर आओ
पूरी ताक़त लगाकर प्रकाश फैलाओ, औ'
देती रही हो सांत्वना मुझे
तुम हो तो मैं हूँ
तुम्हारे मधुर बोल सुनता रहूँ
और मैं ख़ामोश तुम्हें देखता रहूँ।

मातृ-दिवस

गंदी चिथड़ी जैसी उसकी साड़ी है
चौंकिए मत वह
भारत के एक गाँव की क़िस्मत की मारी
लाचार दुखियारी
एक विधवा नारी है।

बदन ढँकने को ब्लाउज है तंग
तिस पर डेढ़ साल के बच्चे का संग
चिपटाई गोद से
भरी है क्रोध से
आठ मई का तपता महीना
बदन से छूटता पसीना
सर पर है आठ
लाल ईंटों का ढेर
है बारह बजे का बेर
सूखे नारियल-सा हड्डी के ढाँचे-भर बचा
उसकी ज़िंदगी का
एकमात्र भविष्य
सूखे स्तनों को
अपने हाथों से पकड़
दूध तलाश रहा है
वाह रे वाह!
आज सारा विश्व
मातृ-दिवस मना रहा है।

रास्ते का पत्थर

मैं एक पत्थर हूँ
रास्ते पर पड़ा
पर तुम मुझे
रास्ते का पत्थर समझ
ठोकर मत लगाओ।

मुझे ठोकर लगाना
तुम्हारी बदक़िस्मती होगी
क्योंकि अगर किसी ने उठाकर
दे दी मुझे सही जगह, तो
तुम वहाँ आकर
टेकोगे माथा अपना
फैलाओगे झोली ख़ाली अपनी
माँगोगे भीख जीवन की मुझसे
और जब देखी नहीं जाएगी
तुम्हारी बदक़िस्मती मुझसे
तब मैं बह उठूँगा।
पिघलकर मोम की तरह
और रोम-रोम से मेरे
बह उठेगी तुम्हारे लिए
जीवन की अमृतधारा।

गुलाब

तुम तो गुलाब का फूल हो
रूप, गुण और सुगंध से परिपूर्ण
तुम्हारे अस्तित्व का महत्त्व तो
दूसरों को सुख पहुँचाना है....
तन की-मन की-आत्मा की।

इसलिए मत भूलो स्वभाव अपना
कोई देखता है तो देखने दो
कोई छूता है तो छूने दो
सूँघता है तो सूँघने दो।

जानता हूँ, तुम्हारी पृष्ठभूमि
काँटों से परिपूर्ण है
पर तुम काँटा नहीं, फूल हो
जो चुभता नहीं, बसता है आँखों में
मन में और हृदय में
तुम्हें पाने, पाकर खुश होने में
काँटे चुभवाना अपना धर्म समझता हूँ।

शायद तुम्हारी नज़र में
यह मेरी भूल हो
पर क्या करूँ
तुम तो गुलाब का फूल हो।

चाहत

सबसे मूल्यवान और
ख़ूबसूरत रिश्ते की
पौध उगाना चाहता हूँ
छाँव-तले उसके
सपने सजाना चाहता हूँ
हाथों में लिए दीप की
बाती जलाना चाहता हूँ
कमज़ोर और काँपते हाथों से
मिट्टी का यह छोटा-सा दीया
गिरकर टूट न जाए
भय सताता है मुझे
क्या कहूँ? किससे कहूँ?
कौन सुनेगा मेरी?
इस दीए की मद्धिम रोशनी में
अपनी मंज़िल की ओर
क़दम बढ़ाना चाहता हूँ
जलकर रोशनी देता रहे यह दीप
बुझ न जाए कभी.....कहीं
इसलिए मैं हाथ की
हथेली जलाना चाहता हूँ।

अंतर्दृष्टि

स्मारक बनाने की कला
जाननेवाला मज़दूर
संगमरमर की बड़ी बड़ी पाटियों का ही
उपयोग करना जानता है
उन्हें अपनी आवश्यकतानुसार
तोड़कर-काटकर
बचे-खुचे छोटे-छोटे टुकड़ों को
व्यर्थ समझकर फेंक देता है
जिन्हें एक दृष्टि-संपन्न शिल्पी
उठाकर सहेज लेता है
और अपनी
'छोटी-सी छेनी और हथौड़ी से'
एक 'देवदूत' को
जन्म दे देता है।

मेरी आवाज़

मैं सदियों से सूखकर
बज्र-कठोर हो गयी हूँ
अब मैं अपने सीने पर
हल चलवाना नहीं चाहती।

नीले आकाश में
काले बादलों को देखकर
सोचती रही....
वर्षा होगी ज़रूर और
नमी आएगी मुझमें भी।

लेकिन वे बादल
बिन बरसात किए चले गए
फिर सूखा पड़ा
हाहाकार मचा
अट्टहास करती धरती चीख़ी
दिग्दिगंत में
भयानक सन्नाटा छा गया
और उस सन्नाटे में
एक दबी और कलपती
मेरी भी आवाज़ थी।

काल

काल
जब जाता है अतीत के गर्भ में
तब जन्म लेती हैं
स्मृतियाँ
मधुर, सुखद और सुंदर।

अतीत
स्रोत है प्रेरणा का
जो झुलसे वर्तमान को भी
जीवन देकर हरित करता है
और खो जाता है मनुष्य।

चेतना
वापस लौटती है और
लौटता है
अतीत
तब वर्तमान बनकर
क्योंकि बीत चुका होता है
तब तक काल।

धूल

धूल तो धूल ही है
पर वह जब किसी के
चरण की हो तो
बात ही कुछ और है
माथे से लगाकर
धन्य होने की इच्छा होती है।
पर न मैं पहुँच पाता हूँ वहाँ तक
न ही मेरे हाथ
इसे मैं क्या कहूँ
अपने लिए?

भविष्य

लिखा है सागर पर कितनों ने
फिर मैं क्या लिखूँ।
नज़ारों में एक नज़ारा हूँ मैं भी लेकिन
आख़िर लोगों को एक दिखूँ
तो क्या दिखूँ?
दिखने की चाहत तो बरबस है मेरी
पर देखता ही रह जाता हूँ
सागर का किनारा।

सागर का किनारा
जहाँ लगती है भीड़ सुबहो-शाम
अपने दिलों में कुछ सँजोए
दिखती है अवाम
कुछ लहरों का शोर सुनती है तो
कुछ तितलियों की तरह
उड़ती हुई लुभाती हैं दिल,
तो कुछ पिल्लों की तरह लगाते हैं
दौड़ सागर की रेत पर तो
कुछ भीगकर सागर के नमकीन जल में
करते हैं धन्य अपने जीवन को...

यह सोचते हुए
कि भविष्य में गर्व से कहूँगा
अपने बेटे से सीना तान–
देखा है मैंने सागर की मौजों को।

लेकिन सागर के किनारे
दिखता है मुझे कुछ और–
खड़ी है एक औरत,
लिए एक टेबुल पर कुछ बोतलें
जिनमें पड़ा है रंग-बिरंगा
और अलग-अलग स्वादों वाला पानी–
जी, वह पानी नहीं...
जूस है जूस–
नीम का, करैले का,
गाजर और लेमन का
पीते हैं लोग जिसे एक गिलास
रुपए पाँच में लेकर
और ख़ुद को
स्वस्थ और निरोग बनाने का
भ्रम पालते हैं–
हक़ीक़त यह है कि
नहीं करती वह लोगों को रोगमुक्त वरन
वह तो जुटाती है रुपया
अपने बच्चों की ख़ातिर
ताकि मिटा सके वह
वह उनकी भूख।

पीकर मैंने भी एक गिलास नीम का जूस
दिया पाँच रुपया
और पूछ लिया यूँ ही उससे कि
कुछ और काम भी करती हो क्या?
उत्तर दिया बड़ा छोटा-सा उसने...
'जी नहीं, मैंने सिविल इंजीनियरिंग में
डिप्लोमा किया है।'
हतप्रभ हो जाता हूँ मैं
सुनकर यह और
दिखने लगता है मेरे सामने
भारत का भविष्य
धुँधला खड़ा है।

भावना

भावना
तुम कितनी कोमल, सुखद और सुमधुर हो
रखना चाहता हूँ अपने पास तुम्हें
घनीभूत करना चाहता हूँ
बर्फ़ की तरह पिघलाकर
व्यक्त करना चाहता हूँ
रंगों में ... सुरों में ...
नूपुरों और शब्दों में
न जाने कितने-कितने रूपों में

पर अभिव्यक्ति पाने के लिए
शांत और एकांत क्षणों में
तुम्हारा मिलना ज़रूरी है
तभी तो इन क्षणों में
तुम सशक्त होकर
स्वत:स्फूर्त प्रवाह बन सकती हो।

पर यह क्या?
महज़ मेरी मामूली छुअन से
आहत हो गईं तुम
छुईमुई की तरह
सिमट-सिकुड़ गईं और
खड़ा हो एकटक
देखता रह गया।

महत्त्व

किसी वृक्ष का
पुराना और पीला पड़ गया
एक नन्हा पत्ता
जो टूटकर आ गिरा धरती पर...
आ सकता है वह किसी के काम भी
कोई सोच भी नहीं सकता....

किंतु आज तो एक
बड़ा आश्चर्य दिखा कि
वह पुराना पीला पत्ता भी
अचानक कितना महत्त्वपूर्ण हो उठा
जब किसी की नज़र उस पर पड़ी
किसी के हृदय की अमराइयों में
अभिव्यक्ति के लिए
भटकती भावनाओं के निमित्त
एक स्वर्णिम खुला पृष्ठ बन गया
और लिखी गई उस पर
एक अमिट प्रेम-कहानी।

भा गया मुझे भी

नैसर्गिकता से अनजान
एक दिन सिमटा
घर की चारदीवारी में
जूझता हुआ परेशानियों से अपनी
खीझता, झल्लाता, कोसता हुआ
अपने-आपको बैठा था मैं
तभी मिला मोबाइल पर
एक नन्हा-सा संदेश-
'निकल सकते हो तो
निकलो बाहर और निहारो खुला आसमान....'

पढ़कर वह संदेश
निकला बाहर
चढ़ा मुँडेर पर छत की अपनी
और खड़ा हो गया
पूर्व दिशा की ओर मुँह करके
कुछ देखने की अथक कोशिशें भी कीं
पर सब बेकार
हुआ लाचार।

गूँजा तभी कानों में
एक मधुर स्वर....

'क्यों हताश होते हो?
पश्चिम की ओर तो देखो सही।'
फिर क्या था...?
चढ़ा कुछ और ऊँचाई पर
जहाँ से दिखे स्याह गगन में मुझे
कुछ झिलमिलाते सितारे
और उन सितारों के बीच
एक बेहद चमकीले
सितारे के ठीक नीचे
दिखा क्षीणकाय चाँद
जो उस चमकते सितारे को
अपने आगोश में भरने की
लालसा लिए
क्षीणतर होता जा रहा था
वह चाँद–
जो भा गया था किसी को
और अब मुझे भी....।

विडंबना

चमकते अनगिनत सितारों के बीच
खोता हुआ प्रकाश मैं अपना
इस विस्तृत नभ का
एक डूबता हुआ सितारा हूँ
इस दुनिया में
वैसे तो भरी है चहल-पहल चारों ओर
पर यह कैसी विडंबना है मेरी
देखो तो सही
निराशा के गर्त में
डूबते लोगों के निमित्त
तिनके का सहारा हूँ
मैं तो एक डूबता हुआ सितारा हूँ।

एक अजीब सवाल

अक्सर उलझ जाता हूँ मैं
एक अजीबोग़रीब सवाल से कि
व्यक्ति, परिवार, समाज और देश–
इन चारों में
कौन है सबसे ज़्यादा महत्त्वपूर्ण?

सभी जानते हैं–
व्यक्ति से परिवार
परिवार से समाज
और समाज से देश निर्मित होता है।

देश के निर्माण में
इसलिए व्यक्ति ही है सबसे महत्त्वपूर्ण
इसे सभी मानते हैं।

फिर व्यक्ति जिस समाज में
जन्म लेकर विकास करने को
दिखता है आतुर
वह समाज तो जल रहा है
अनगिनत समस्याओं की अगन में।

'झूठे अहं' की तुष्टि में
गला घोंटा जा रहा है– 'जीवनमूल्यों' का

आध्यात्मिकता की हमारी पहचान को
कब्र में दफ़नाने की
कोशिशें की जा रही हैं भरपूर...
पारंपरिक मूल्यों की
उड़ाई जा रही हैं खिल्लियाँ....।
आधुनिकता के नाम पर
स्वीकारने को नहीं हैं तैयार उन्हें
आज की युवा पीढ़ी
वह तो शामिल हो गई है
वैश्वीकरण की अंधी दौड़ में
दिग्भ्रमित होकर
अपन सुध-बुध खो चुकी है
जीवन की सफलताओं से
हाथ धो चुकी है।

जीवनमूल्यों को अपनाकर
विकास-पथ अग्रसर होने की
कामना करनेवाला
आज
अव्वल दर्जे का मूर्ख समझ जाता है।

विचित्र रिश्ता

ये तन जल रहा है,
ये मन जल रहा है,
जीवन के साथ सारा,
चमन जल रहा है।

इस आग को बुझाने,
कोई नहीं है आता,
राख होती है ज़िंदगी, पर
कोई तरस नहीं है खाता।

किसने लगाई आग यह,
किसी को नहीं है पता,
ग़म में डूबे हुए लोगों को
किसी से न कोई ख़ता।

जिनका जला है आशियाना,
वे उदास बैठे हैं,
जिसने जलाया आशियाना,
वे उनके पास बैठे हैं।

जो कल था उनका शत्रु,
आज मित्र बन गया है,
दरारें तो दिखती हैं और,
रिश्ता विचित्र बन गया है।

बंधन में जीवन

यह विशाल वट-वृक्ष
शीत, धूप और वर्षा सहता हुआ
अपने विकास की कहानी कहता है
कटु-मधु अनुभवों के साथ।

उसकी काली चमड़ी,
छतनार डालें और
फैली उसकी मज़बूत जड़ें
साक्षी हैं कि
सचमुच उसने जीवन के कई वंसत गुज़ारे हैं
अठखेलियाँ करते हुए
उन्मुक्त आकाश के साथ...।

इस वट-वृक्ष की
मज़बूत डालों की संधि के मध्य
वर्षों पुराना एक कोटर है
जो चिड़ियों का बसेरा रहा है
और आज भी अपने उस रूप को
अपने अस्तित्व को
सार्थक प्रमाणित कर रहा है
एक नन्हे, कोमल पक्षी-शावक को

शरण देकर।

रात्रि के गहन अंधकार में
वह पक्षी-शावक
सुनता है अपनी माँ से
देश-दुनिया की विशालता
प्रकृति की अनुपमता
आकाश की उन्मुक्तता
और विकल हो जाता है
एक स्वतंत्र उड़ान के लिए।

पर जैसे ही वह
अपने कोटर के द्वार पर आकर
तोलता है अपने पंखों को
एक लंबी उड़ान के लिए-
माँ की हिदायतें कौंध जाती हैं
जेहन में उसके कि
बाहर मौत का ख़तरा है
प्रदूषण है
तुम्हारे कोमल जिस्म को लालायित
लाल-लाल आँखें बिछी हैं चारों ओर-
जिसे सुन डर जाता है वह
और फिर सुरक्षित कोटर को छोड़
बाहर स्वतंत्र उड़ान का ख़्याल
दफ़ना देता है मन की गहराइयों में।

बाहरी आतंक के साए से भयभीत

दुबकने को विवश है
अपने कोटर के भीतर
और विवश है घुट-घुटकर जीने को
अपने मधुर कंठ को सीकर।

डर-डर कर इसी तरह वह
घुटन का हलाहल पीता है
कहते हैं आज़ाद ख़यालों
वह पंछी
बंधन में जीवन जीता है।

वह जंगल ही भला था

ईश्वर की श्रेष्ठतम कृति है यह धरती
और इसे सुंदरतम करने की ममता में
रचा गया यह मनुष्य भी,
जिसके पास है–
भावना, बुद्धि और विवेक की अपूर्व शक्ति।
आरंभ से ही देकर बुद्धि को तरज़ीह
संतुलन बिगाड़ दिया उसने
भावना और विवेक का
और हो गया है आज
निरीह, बेबस और लाचार
अपनी राह से भटक गया
यह संसार....।
बुद्धि ने दिखाई
मनुष्य को विज्ञान की राह
जिस पर चल पड़ा वह
और
धीरे-धीरे होता गया मरहूम
भावना और विवेक से।

विज्ञान के बल पर
आज का मनुष्य भले ही

जा पहुँचा हो चाँद पर
या उतर चुका हो
समुद्र की अतल गहराइयों में
पर विडंबना यह है कि
वह कंधे से कंधा
और क़दम से क़दम मिलाकर
इंसानों की तरह साथ-साथ
चलना भूल गया है।

एक सत्य...
पहले जब वह असभ्य था
तथाकथित रूप से
उसके बढ़े नाख़ून और नुकीले दाँत
सिद्ध करते थे
उसकी बर्बरता
पर जानते हैं आप....?
इनका इस्तेमाल वह
करता था अपने रक्षार्थ..
और बर्बर कहलाया...।
जबकि आज वह उन्हें
काटता है
काटकर सभ्य कहलाता है
किंतु बर्बरता की सारी हदें
पार कर चुका है...
वैश्वीकरण की अंधी होड़ में पड़कर
अतिबौद्धिक हो

आज का मनुष्य
अपनी पहचान तक भुला चुका है।

क्यों भुला दिया है उसने
अपने विश्वगुरुओं को?
चलना सिखाया था जिन्होंने उसे
उसकी उँगली पकड़कर,
फैलाया था उजाला
उसके अंधकारमय पथ पर
पढ़ाया था पाठ मानवता का।
आज उनकी सीखों पर से
आस्था उठ सी गई है
ज्ञान की सारी बातें
क़िताबों में धरी-की-धरी रह गईं हैं
अब तो वह डरने लगा है
अपनी आत्मा और विवेक को जगाने से
कतराने लगा है वह अब
इनके क़रीब आने से।

जंगल से निकलकर कहाँ तो वह
मनुष्य बनने चला था
पर विवश है वह सोचने पर आज कि
मनुष्यों के इस जंगल से तो
वह जंगल ही भला था...
वह जंगल ही भला था।

हसरत

हर पल एक ही हसरत के साथ
जीता हूँ मैं कि
कब उसकी नज़रें
इनायत होंगी मुझ पर
और मेरे भीतर का सोया कवि
जाग उठेगा
भावनाओं के सागर में
गोता लगा-लगाकर
बिखेर देगा कविताओं के
अनमोल मोती
इनके, उनके, सबके लिए।

पर उसने तो अपनी आँखों में
सँजों रखे हैं कुछ
सपने बड़े विचित्र से
जिन्हें वह बेहद ख़ूबसूरत मानता है
उन्हीं चंद हसीन सपनों की
सपनीली रोशनी में
उसकी निगाहें व्यस्त हैं उस तरफ़
जिधर ज़िंदगी में
कुहराम मचा है और जहाँ

एक नई विध्वंसक संस्कृति के दंश से
शायद ही कोई बचा है।
आज के आदमी का हृदय
भावनाओं से रीत गया है
इंसान के इंसान कहलाने का
ज़माना अब बीत गया है।
उसका मस्तिष्क
सूचनाओं का संदूक़ हो गया है
जीवन-रक्षा का हथियार
अब प्रेम नहीं, बंदूक़ हो गया है।
इसी के बल पर
लाना चाहता है वह शांति
है कितनी बड़ी यह भ्रांति।

हर तरफ़ घोर अविश्वास बिखरा है
जीवन जीने का नया नाज़-नख़रा है
थर्रा उठा है जीवन यहाँ
मानवीय संबंधों के दरक जाने से
प्रेम से कोसों दूर खड़ा वह
हिचकता नहीं नफ़रत को गले लगाने से।
अरे, प्रेम ही तो सच्चाई है जीवन की
कबूलते क्यों नहीं
घृणा, नफ़रत और द्वेष को
अब भूलते क्यों नहीं????
आस्था टूटने मत दो जीवन का
संबंध बिखरने मत दो।

वाणी गूँजती रहे मेरी
और क़लम चलती रहे
इसलिए एक बार ही सही
अपनी शीतल दृष्टि की
बरसात अवश्य कर दो
प्रेरणा-स्रोत हो मेरी
नए जीवन का वरदान
मुझे अवश्य दे दो।

तुम भी रहो तैयार

तुम खड़े हो उस समाज में
जहाँ तथाकथित इंसान रहते हैं।

तुम समाज को अपनी नज़र से देखते हो
और समाज तुम्हें अपनी नज़र से
जो कभी भली नहीं होती
तभी तो ईसा सूली पर चढ़ाए जाते हैं
सुकरात को ज़हर दिया जाता है
मीरा को कुलटा कहा जाता है
भगतसिंह फाँसी चढ़ाए जाते हैं
गांधी को गोली मारी जाती है
ऐसे कितने नाम गिनाऊँ तुम्हें
नामों की कमी नहीं।

तुम भी रहो तैयार
सदा अपने सिर पर कफ़न बाँधे
अपनी ज़िंदगी का मोह छोड़
दे दो क़ुर्बानी समाज की ख़ातिर
तभी तुम्हारी क़ब्र पर भी
एक दीया जगमगा उठेगा
जिसकी मद्धिम रोशनी में, यह संसार
आगे बढ़ने के लिए
एक ठोस क़दम उठा पाएगा।

अतीत का गुणगान

कितना गाओगे गुणगान
अपने अतीत का?
वह कभी लौटकर आता नहीं
न ही आता भविष्य कभी
ख़ूबसूरत कल्पनाओं में सजकर
क्योंकि वर्तमान ही है तुम्हारा
एकमात्र 'सच'।

मत याद करो अपने
गौरवशाली अतीत को
न ही खो जाओ
सुनहरे भविष्य की
ख़ूबसूरत वादियों में।

एक, तुम्हें रुलाएगा–तुम्हारा अतीत
दूसरा, तुम्हें भुलाएगा–तुम्हारा भविष्य
जो कुछ तुम्हारा अपना
वह जो वर्तमान है
लहूलुहान हो एक दिन
यूँ ही लुट जाएगा।

इसलिए जूझ पड़ो

वर्तमान के पथ में पड़े
रोड़े-पत्थर और काँटों को
हटाने के लिए
संघर्षरत हो जाओ।

वही तुम्हारा अतीत बन जाएगा
और भविष्य के सपने
साकार हो जाएँगे।

अनंत संभावनाओं से युक्त

वह बीज
एक दिन चुपके से
उस बोरी से निकल
जहाँ वह अपनी ही तरह के
बीजों के साथ अपने जीवन का
एक-एक पल काटता हुआ
बाहर आने के लिए
हो रहा था अधीर
अचानक वहाँ आ खड़ा हुआ
जहाँ उसके स्वागत में
वसुधा खड़ी थी।
हर्षित हो पूछा बीज ने वसुधा से...
'हे वसुधा! क्या तुम अपना नाम सार्थक कर
मुझे अपनी गोद में धारण करोगी?'
कुछ न कहकर मुस्कुरा उठी वसुधा,
जिसे उसका मौन आमंत्रण समझ
बीज खिल उठा
और रख दिया सिर उसकी गोद में
भर उठा मोद में
यह सोचकर कि अब क्या है?
सपना तो उसका
साकार हो ही जाएगा।

पर अभागा था वह बीज
जिसे वसुधा ने अपनाया तो ज़रूर
लेकिन वहाँ उर्वरता नहीं थी
वह तो गहरी उष्णता और प्रदूषण से
वर्षों पहले अनुर्वर हो चुकी है।

आज की दुनिया

भीड़ भरे संसार-पथ पर
चलता हुआ मैं
तलाश रहा हूँ
मन का मीत
साथ जिसके सुर मिलाकर
गा सकूँ जीवन का
प्यारा-सा एक गीत
पहुँचा सकूँ गूँज गीत की
लोगों के हृदय तक
कर सकूँ मजबूर उन्हें भी
गाने और गुनगुनाने के लिए
लेकिन यहाँ तो लोगों के जीवन में
कुछ और ही बात है
हर तरफ़ विश्वासघात है
अविश्वास का साया मँडराता है
नज़र कहीं कुछ नहीं आता है
चेहरा हँसता तो दिखाता है
पर भीतर है भयभीत
ऐसे में ढूँढ़ना मुश्किल लगता है

अपने मन का मीत
एक प्यारा-सा गीत है
'त्रिलोचन' ने गाया-
कुछ यूँ ही मुसकाकर तुमने
परिचय की यों गाँठ लगा दी'
परिचय की गाँठ तो
यहाँ भी लगती है
पर दिखाने के लिए
जिसमें सच निभाने के
वादे ही नहीं,
दावे भी किए जाते हैं
आज की दुनिया ही ऐसी है
जिसमें लोग
ऐसे ही जीए जाते हैं।

ज़िंदगी

सुबह तो हर रोज़ होती है
और सूरज के उजाले में
ज़िंदगी ज़िंदगी से भागती है।

ज़िंदगी मुस्कुराती क्यों नहीं?
ज़िंदगी गाती क्यों नहीं?
मुझे हर पल है तुम्हारा इंतज़ार
मेरी ज़िंदगी
तुम मेरे पास आती क्यों नहीं?

ज़िंदगी अब कहीं भी नहीं दिखती
न गाँवों में,
न पीपल की छाँवों में
वह तो सिसक रही है
तले पड़े शहरी पाँवों में
जहाँ ख़ुशबू क़ैद हो गई है
शीशियों में

तलाश रोशनी की

कोहरे में ढँका
मेरा अतीत
जहाँ कभी-कभार
आस्था की चिंगारी की चमक
कौंध जाया करती थी।

लगता रहा मुझे अब तक कि
कोहरा तो कोहरा ही है
छँटेगा एक-न-एक दिन अवश्य ही
और होने लगता था-पुलकित
मेरा सब-कुछ
तन-मन-और आत्मा।

फिर कभी नहीं बैठ पाया मैं,
सिकोड़कर अपने हाथ-पाँव।

जीवन-कूप की
अथाह गहराई में
बैठा मेरा आत्मविश्वास
कहता रहा मुझे अहर्निश, कि
देखते रहो निरंतर कोहरे की तरफ़
सो मत जाना

वरना, लोग तुम्हें उठाकर
पहुँचा देंगे उस जगह
जहाँ से कुछ भी दिखाई नहीं देता–
न कोहरा 'औ'
न ही कोहरे के पीछे छिपी रोशनी।

लेकिन यह कहाँ पता था मुझे कि
कोहरा सामान्य नहीं है यह
यह तो तब छँटेगा
जब हो जाएगी साँझ
मेरे जीवन की।

जानते हो?

जानते हो
एक चिकित्सक (डॉक्टर) का धर्म
क्या होता है?

मैं बताता हूँ तुमको
एक डॉक्टर को
धरती पर दूसरा 'भगवान' कहते हैं,
कहते नहीं, मानते भी हैं...
क्यों...?
एक मरणासन्न को
जीवन देता है वह नया
इसीलिए...।

क्या यह भी जानते हो कि
हमारी अनोखी भारतीय संस्कृति में
'गुरुर्ब्रह्मा: गुरुर्विष्णु: गुरुर्देवौ: महेश्वर:'
कहा जाता है?

मैं बताता हूँ तुमको
'गुरु' अपनी दिव्य सृजनात्मक
कल्पना-शक्ति से

सामाजिक पशु (प्राणी) को
उसकी पाशविक प्रवृत्ति से
मुक्ति दिलाकर
मानवश्रेष्ठ बनाता है....।

और यह भी कि
मानव कौन है?
मैं बताता हूँ तुमको
मानव वह है जो
अपना तन-मन-धन सब-कुछ
कर देता है अर्पित
मानवता के लिए....।

भावी संतति का पथ

मत डर
चुन वह तू
कठिन डगर
हों जिस पर कंकड़-पत्थर
मिलेंगे काँटे उस पथ पर
मत डर
चुन वह तू कठिन डगर....

चुभेंगे काँटे पग में तेरे
रह-रहकर
तब धार लहू की बहेगी
देंगी तुझको विचलित कर
क्षण-क्षण, पर
होकर हताश, हारकर हिम्मत
हो मत जाना तू स्तब्ध...

मुस्कराकर जो बढ़ते हैं
ऐसी कठिन डगर पर
वे ही कहलाते हैं शेर
और शेर?
नहीं चलता है कभी वह
बने-बनाए पथ पर

वह तो ख़ुद है राह बनाता अपनी
नहीं करता वह
परवाह कभी इनकी
जाती नहीं कभी
आँखें भी उसकी
उस तरफ़ जहाँ
बिखरे होते हैं काँटे
एक से बढ़कर एक नुकीले
होकर वह बेफ़िक्र
रौंदकर उन काँटों को
बढ़ जाता है उस पथ पर
भले ही बहने लगती हैं
ख़ूँ की बूँदें धरती पर
ख़ून की ये बूँदें ही
टपक-टपककर
जाती हैं पथ पर बिखर
रोशनी बनकर
आलोकित तब करती हैं पथ
अपनी भावी संतति का।

खेल नियति का

यह तो सब खेल है नियति का
जिसने मुझे धूलभरी सड़क से
उठाकर ला खड़ा किया
महानगर की चौड़ी सड़क पर
और धकेल दिया आगे बढ़ने के लिए
लड़खड़ाया, कभी गिरा
गिर-गिरकर उठा
चलने को बेताब रहा
भटकता ताउम्र रहा
तुमसे मिलने के लिए
यह तो उसी नियति का
खेल है जिसने मुझे
मिला दिया तुमसे
ऐसे समय में
मैंने साथ दिया तुम्हारा
जब समय
मेरा साथ नहीं दे रहा था
और ऐसे समय में ही
मैंने तुमसे प्रेम किया
शाश्वत-प्रेम दिव्य अनुभूति की प्रेरणा से।

जब प्रेम करना
मूर्खता ही नहीं अपराध माना जाता है
सभ्य मनुष्य की दुनिया में
तमाम ख़तरों के भीतर से
जूझते और गुज़रते हुए
मैंने तुम्हें दिल दिया
ऐसे समय में
जब तुम्हें स्वयं
अपने दिल को
सँभालना मुश्किल हो रहा था।
गहराती शाम की तरह
जब झुटपुटा अँधेरा होता था हमेशा
तुम्हारे इर्द-गिर्द
एक रहस्य-आवृत्त से
जब घिरती थीं तुम
मैं एक छोटा दीपक बन
अपने स्नेह को ख़त्म करता रहा।
एक पेड़ की तरह होता था मैं
तुम्हारे लिए
जिसकी शीतल छाया में तुम
विश्राम कर
दूर करती थीं तुम
अपनी मानसिक थकान।
इस अतिबौद्धिक दुनिया में
जहाँ रौंदकर अपनी आत्मा को
आगे बढ़ने के करतब ही

कौशल माने जाते हैं
लेकिन मैं बादलों की तरह बेचैन
भटकता रहा मिलने को
तुमसे पूरी उम्र
ताकि देख सकूँ अपनी ज़िंदगी में
एक दिन वह भी
जब लहलहा उठेगी मेरी वसुधा।

नए युग की संरचना

मुझे ज़िंदगी से बाहर रखने की
तमाम कोशिशें कीं इस ज़माने ने
दूर ही कर देना चाहा मुझे
ज़िंदगी से, उसकी ज़रूरतों और ख़तरों से
आज जब हूँ ज़िंदगी के भीतर
स्मृतियाँ बार-बार उभर आती हैं,
मानस-पटल पर
और भविष्य की तरफ़
बढ़ता जा रहा हूँ उन क़दमों के सहारे
जिनमें चलने की ताक़त
नहीं रही अब शेष
टकटकी लगाए देखता हूँ अनिमेष
अचरज होता है मुझे
जीवन में अनवरत संघर्ष करके
सीखा नहीं सबक़ मैंने अब तक
अपनी मौत के ख़ौफ़ से बेख़ौफ़
करता रहा मैं
स्मृतियों और इच्छाओं का आविष्कार
जिनसे प्रकट हुई
आशातीत जिजीविषा मेरी
जिसकी परिणति है
नए विचार, नए मनुष्य और
उसके बल पर
एक नए युग की संरचना।

पल-पल ख़ुशी के क्षण

पल-पल खुशी के क्षण
जीने की चाह में
जीता रहा हूँ मैं
दूर क्षितिज पर उगते सूरज के
सौंदर्य की अपेक्षा
डूबते सूरज की उदासी
अपनी आँखों में भरने लगा हूँ मैं।

वृक्ष की डालियों पर चहचहाती,
कलरव करती चिड़ियों के संगीत के
सुर के साथ अपना सुर मिलाकर
गाने की चाह में
जीता रहा हूँ मैं
किंतु दूर क्षितिज से थके-हारे
नीड़ की तरफ़ लौट रहे
पक्षियों की तरह
गूँगा होने लगा हूँ मैं।

मैं निहारना चाहता हूँ सौंदर्य
बिखेरना चाहता हूँ संगीत का जादू
लेकिन निहारने और गाने के आवेश में
मेरी आँखें पथरा गई हैं और
मेरी जीभ
तालु से चिपककर रह गई है।

बिखरकर पसर जाएँगे

भावनाएँ जो घनीभूत होकर
शाश्वत अभिव्यक्ति पाने के लिए
विकल हो रही थीं
लगता है– शब्द कहीं खो गए
अचानक भीड़ के शोर में या
डूब गए समंदर की गहराइयों में
कभी उन शब्दों पर
मुझे अधिकार था
खेलना चाहता था मैं उनके साथ
ख़ूबसूरत आकार देना चाहता था
क्या मेरा इतना भी अधिकार नहीं रहा
कि मैं खेल सकूँ उनके साथ?
क्या मालूम था मुझे कि
मेरी धमनियों में लहू की तरह
बहने वाले मेरे शब्द
मेरे सामने बिखरकर पसर जाएँगे?

सावधानियों के बावज़ूद

लाख सावधानियाँ
बरतता रहा मैं कि
जिस आईने में
अपना चेहरा देखता रहा हूँ
उस पर न जमने पाए धूल कभी
वह अचानक
बिना कुछ आवाज़ किए टूटकर
एक ख़ामोश मौत का पैग़ाम दे गई।
लगता है इसी तरह
चीज़ों के टूटने का सिलसिला
शुरू हो गया है
और एक दिन मेरा प्यारा-सा घर
जिसे बड़े जतन
और मेहनत से बनाया था
खंडहर में तबदील हो जाएगा।

आ मेरे मन अब लौट चल

हर पल गाना, हर पल हँसना
मुख से अपने बार-बार ये कहना
दूर न जाना, साथ ही रहना
ये कैसी आँधी ज़ोर की आई
टूट के सपने बिखर गए अब मेरे
मच गई ये कैसी हलचल
आ मेरे मन अब लौट चल।

बरस गए ये कैसे बादल
पानी में धुल गए इरादे
कैसे करते रहे तुम वादे
पल-पल बिंब बदलते जाते
वसुधा की आँखों के दर्पण में
रहा न चेहरा वह अब निश्छल
आ मेरे मन अब लौट चल।

बादल के छोटे-छोटे टुकड़े

बादल के छोटे-छोटे टुकड़े
छाने लगे आकाश में
और घिरने लगा अँधेरा सर्वत्र
ऐसी विकट घड़ी में
मुझे अकेला
अपने द्वार की देहरी पर
बिठाकर कहाँ जाना चाहते हो?

पता है तुम्हें या नहीं
मैं नहीं जानता
लेकिन सत्य यह है कि
हर पल मैं व्यस्त रखता हूँ
अपने आपको
तुम्हारे ही केंद्र की परिधि में।

अब इस अंधकारमय बेला में
अकेला बैठा प्रतीक्षारत हूँ
यदि तूने आज बरसात नहीं की
तो यह सूखी बंजर धरती
होगी कैसे आबाद
मैं तुम्हें देख रहा हूँ निर्निमेष
और तुम्हारे ही साथ कर रही हैं
मेरी आँखें व्योम-विहार।

भय का भूत

शहरी शोर अब
गूँजने लगा है कानों में मेरे
जिससे भयाक्रांत हो रहा हूँ
तुम आओ पास मेरे
नष्ट करने मेरे उस भय को
मुख मोड़कर मुझसे
दूर मत जाओ।

जानता हूँ मैं तुम पास ही हो मेरे
पर नहीं पहचानता मैं तुम्हें
रोशनी नहीं आँखों में जो मेरी
देख रहा हूँ
अंधे की भाँति कहीं और।

दे दो न आँखों को
रोशनी मेरी
जिससे मेरे अंतर-पथ पर
फैल सके प्रकाश
जाग उठे मेरा विश्वास
ताकि भय का यह भूत
कुछ न सके मेरा बिगाड़।

अनोखा दस्तूर

अँधेरे से निकालकर
रोशनी में लाने की कोशिश करना
यदि गुनाह है, तो
समझो मैंने वह गुनाह किया है
और सजा तो मिलनी ही चाहिए
गुनाहगार को
दुनिया का दस्तूर जो है।

आग उगलते आसमान की
ज्वाला से बचने के लिए
सड़क-किनारे खड़े वृक्ष की छाँह में
पनाह लेना यदि गुनाह है,
तो समझो मैंने वह गुनाह किया है
और फिर सजा तो मिलनी ही चाहिए,
गुनाहगार को
दुनिया का दस्तूर जो है।

कल-कल करती बहती नदी के
शीतल जल से अपनी प्यास बुझाना
यदि गुनाह है, तो
समझो मैंने वह गुनाह किया है।
और सजा तो मिलनी ही चाहिए
गुनाहगार को

दुनिया का दस्तूर जो है।

दुनिया की भीड़ में
किसी को अपना बनाकर
अपने ह्रदय की बात कहना
यदि गुनाह है, तो
समझो मैंने वह गुनाह किया है
और सजा तो मिलनी ही चाहिए
गुनाहगार को
दुनिया का दस्तूर जो है।

दुनिया, दस्तूर निभाने में
बख़ूबी माहिर है
अपनी सजा देने की कला को
ख़ूब परवान चढ़ाया है उसने अब तक
अपने से प्रेम करनेवाले को
मौत का पैग़ाम सुनाकर
(मसलन, ईसा को सूली चढ़ाकर
गांधी पर गोली चलाकर आदि...)
दुनिया के इस दस्तूर को
कौन नहीं जानता?
और मेरी दुनिया तो तू ही है
बख़ूबी निभा लो
सदियों से चले आ रहे
अपने इस अनोखे दस्तूर को।

हर वृक्ष 'महाबोधि' नहीं होता

वृक्ष तो वृक्ष ही है
हरा-भरा,
फूल-फल और पत्तियों से युक्त
दिन-रात
सार्थकता निभाता है अपनी...
अपने अस्तित्व की
वृक्ष ही बनकर।

उसका महत्त्व
कुछ भी नहीं होता
अपने लिए
महज़ एक नाम के सिवा कि वह
आम, नीम पीपल बबूल
.....या फिर गाँव के सीमांत पर खड़ा
क्यों न हो
एक बूढ़ा वट-वृक्ष ही।

अनगिनत लोग
आते हैं उनके नीचे
बैठते हैं,
आँखें उठाकर देखते हैं
फिर हाथ उठाकर

तोड़ते भी हैं
और तो और
पनाह तक भी लेते हैं
सुकून पाने के लिए
जब आसमान से बरसती है आग।

फिर उसे
वहीं छोड़ खड़ा
लौट-लौट घरों में जाते हैं
व्यस्तता में अपनी
ध्यान भी नहीं जाता
कभी उनकी तरफ़ तब...!
'स्वार्थ-पूर्ति हेतु जाते हैं जो वहाँ....।'

ऐसे ही कभी
इतिहास के किसी कालखंड में
एक दिन
एक व्यक्ति निकल पड़ा था
छोड़कर अपना राजसी वैभव
'बुद्धत्व' की प्राप्ति के लिए
हज़ारों मील चलता हुआ
यहाँ-वहाँ भटकता हुआ
आकर बैठ गया था
न जाने किस घड़ी में
एक दिन एक वट-वृक्ष की जड़ों में
बेहद क्लांत-श्रांत

विश्रांति पाने की दृढ़ चाह में
बैठा रहा, तो बैठा रहा
और बैठा ही रहा......।
शारीरिक थकान
और दुर्बलता ने नहीं छोड़ी थी
ताक़त शेष
देखता रहा शून्य आँखों से
अनंत आकाश में अनिमेष...।

अचानक फूट पड़ी थीं
किरणें ज्ञान की
हृदय की अतल गहराइयों से उसकी
और प्राप्त हो गया था उसे 'बुद्धत्व'
और वह वृक्ष बन गया 'बोधि-वृक्ष'
फिर 'महाबोधि वृक्ष'
धरती के जीवन के इतिहास का
वह मामूली-सा वट-वृक्ष
पहले बोधि, फिर महाबोधि बन गया।

ऐसा सौभाग्य हर किसी वृक्ष का नहीं होता
धरती का हर वट-वृक्ष महाबोधि नहीं होता।

सपनों से ही बनते हैं अपने

'सपनों से ही बनते हैं सपने'
सच की बुनियाद पर होते हैं खड़े
जहाँ धरातल है यथार्थ का
बड़ा कठोर
धकेलता है वही
हमें संघर्ष की ओर
और कहते हैं–
'संघर्ष जीवन का दूसरा नाम है।'

सपने जब देखे हैं हमने
कर डाला है तब-तब
असंभव को संभव
खड़े हो गए शिखर पर
हिमालय की हम।
फहराई विजय-पताका अपनी
दिखा दिया जगत को हमने
ताक़त पैरों और हाथों में नहीं
जज़्बातों में होती है
जज़्बात हौसले देते हैं, और
यदि हौसले हों हृदय के मज़बूत,
तो हम सीख जाते हैं
छूना ऊँचाई आसमान की....

उतर जाते हैं
अतल गहराइयों में समुद्र की।
इतना ही नहीं,
उठ खड़े होते हैं अकेले ही
अन्याय, अधर्म और असत्य के विरुद्ध।
सपने जो मेरे हैं,
उनसे बनाओ सपने अपने भी
और फिर से लिख दो
जीवन का
एक नया इतिहास।

प्रकृति और मनुष्य

धरती के गर्भ में
जब दहकता है लावा
फूटता है वह तब
ज्वालामुखी बनकर और
ख़ाक हो जाती हैं जलकर
वे सारी चीज़ें,
जो सीमा में आती हैं उसके।

धरती जब बदलती है करवट
आता है तब भूकंप
विध्वंस का पैग़ाम लेकर
और बिखर जाता है
चारों तरफ़ मलबों का
ढेर ही ढेर।

समुद्र के गर्भ में
जब टकराती हैं चट्टानें
उठता हैं ज्वार-भाटा
समुद्र की लहरों में तब
और ये लहरें

कहर बरपा देती हैं
सुनामी बनकर।

ये लहरें करती हैं वैसे तो अभिभूत
मानवों को
जिसे अपनी बुद्धि पर
है विश्वास अगाध,
पर सच तो यह है कि
इनके समक्ष है वह
एक मामूली पिद्दी-से
कीड़े की तरह
जो पलक झपकते ही
हो जाता है– नेस्तनाबूद।

शक्तिहीन शब्द

वह अक्सर कहती है–
बोलिए, मुँह अपना खोलिए
लेकिन मैं क्या बोलूँ??
क्यों अपना मुँह खोलूँ???
बातें जो घिस गई हैं!
बातें जो पिट गई हैं!
कभी यदि मुँह खोलूँ भी
तो उनमें प्रयुक्त शब्द
घिस गए हैं इतने
कि उनकी तीनों शक्तियाँ
अभिधा, लक्षणा और व्यंजना–
खो चुकी हैं अपनी
अर्थ–संप्रेषण की भेदन–शक्ति
जिससे वे शब्द
'मानस' तक मूल्य पहुँचाने में
हो गए अक्षम
और 'वेद' की ऋचाएँ
'गीता' के श्लोक
'क़ुरान' की आयतें
'बाइबिल' के दृष्टांत
हो गए खोखले
इस 21वीं सदी के लोगों के लिए।

फ़र्क

देख रहा हूँ मैं
और तुम भी..
फ़र्क़ सिर्फ़ इतना है कि
मैं उगते सूरज को देख रहा हूँ
और तुम डूबते सूरज को।

सार्थकता

जानता नहीं है कौन
बीज में ही रहता है विशाल पेड़ सिमटा
जिसमें होती है घनी,
शीतल और जीवनदायी छाँव
पर उसकी भी अपनी लाचारी है
ज़रूरत है उसे एक माली के
कठोर हाथों के कोमल स्पर्श की,
जिसके कुशल स्पर्श से
वह बोया जाता है ज़मीन के अंदर
उसी की देखरेख में
फूटता है अंकुर उसमें
और निकलता है
पत्तों का कोमल दल
जिसके चारों ओर
मँडराता है
मौत का भयानक साया।

करता है निगरानी उसकी
वह कुशल माली अहर्निश
देता है उसे अपने प्राणों का स्पर्श
आँखों की शीतलता

तब कहीं होता है साकार
बीज का भविष्य
वृक्ष बनकर
जिसमें होती है घनी छाँव
खिलते हैं फूल
लगते हैं रसीले फल।

इस प्रकार सार्थकता
सिद्ध करता है बीज अपनी
और सिद्ध होती है सार्थकता
उस माली की भी।

आस्था

आस्था की डोरी से
बँधा पत्थर भी
भगवान बन जाता है
निराश और हताश लोगों के
जीवन का वरदान बन जाता है
तभी तो कहता हूँ तुमसे
फेंक दो अपने हाथों के ख़ंजर को
जिससे मेरी आस्था को चीर डाला है तुमने।

मैं पूछता हूँ तुमसे
किसने दिया यह क्रूर अधिकार तुम्हें?
अरे, इक्कीसवीं सदी की
अँधेरी दुनिया के लोगो–
क्या तुम्हें नहीं पता?
दुनिया में लोग
जीवन देने आते हैं,
लेने नहीं
पर तुमने तो लेने को ही
अपने जीवन का लक्ष्य बनाया।
लोगों के बहेंगे आँसू

क्या यह समझ में नहीं आया?
कैसे समझोगे तुम भी
'संग' जो दिल है तुम्हारा
बनाओगे तुम सबको
इसी तरह राह का मारा-मारा।

ज़िंदगी देश के लिए होती है
द्वेष के लिए नहीं।

मैं भी इस विशाल भू-खंड की तरह
एक देश हूँ
जिसमें रहते हैं लोग
बसती है लोगों की आत्माएँ
इसीलिए बची रहने दो मेरी 'आस्था'।

अलविदा

माली की नज़र
अकारण ही नहीं पड़ती
फूलों के बीज पर
जानता है वह
जब वह बोएगा इन्हें ज़मीन के अंदर
रासायनिक प्रतिक्रियाएँ होंगी वहाँ पर,
बीज गलेंगे, सड़ेंगे भीतर-ही-भीतर
तब फूटेगा अंकुर
निकलेंगे उससे पौधे
जो हरिया जाएँगे
प्रकृति से हवा, पानी और धूप पाकर,
जिन्हें देख बाँछें खिल जाएँगी माली की
सपने साकार होते दिख जाएँगे
और देता रहेगा वह उन्हें
अपने कठोर हाथों का कोमल स्पर्श
सँपने पाले सूनी आँखों में
इस मधुर सोच के साथ
कि अब यहाँ खिलेंगे
रंग-बिरंगे और सुंदर-सुंदर फूल
महक उठेगी यहाँ की धरती

और होंगी ज़रूरतें पूरी
तन की, मन की, आत्मा की!!
एक छोटा सा सवाल–
माली को क्या हासिल होगा?
महज़ एक मानसिक सुकून–
यही न?
ऋतुओं का परिवर्तन–चक्र
उसे फिर
नए बीजों की तलाश में झोंक देगा
दुहराएगा वह फिर वही पुरानी प्रक्रिया
ऋतुओं का क्रम
बदलता रहेगा लगातार
माली का तन–मन थकता रहेगा
थक–थककर कृशकाय होता रहेगा
और एक दिन एकटक
सूनी आँखों से देखता
दुनिया को अलविदा कह जाएगा।

महाविनाश

भाषा का शिक्षक हूँ, इसलिए
जानता हूँ–
इसके दो रूप होते हैं–
मौखिक और लिखित।
इन रूपों में अभिव्यक्त
विचार और भाव
सहज़ बोधगम्य होते हों
पर भाषा का रूप एक और होता है
और वह है- मौन भाषा
जिसका इस्तेमाल
आज सबसे सहज हो गया है।
जी, यह उनकी भाषा है
जो बोलना और लिखना तो जानते हैं
पर अक्सर मौन होकर ही
करते हैं अपने भावों और विचारों की
अभिव्यक्ति।

बचिए ऐसे भाषा-प्रयोक्ताओं से
बडे खतरनाक होते हैं ये लोग
भयाक्रांत होता हूँ इनसे
जैसे होते थे अँग्रेज़
महात्मा गांधी के मौन से।
आज इस मौन के कारण तो

चारों ओर सन्नाटा छा गया है
भयानक सन्नाटा ....
लोग बोलना तो चाहते हैं
पर ऊँट की तरह बलबलाकर
हो जो हैं मौन।

इनकी तादाद करोड़ों-अरबों में है
इक्कीसवीं सदी के
इस विकसित विश्व-ग्राम में
बड़ी ख़तरनाक बन चुका है यह मौन-
'महाविनाश' कभी भी हो सकता है।

तुम नारी हो

तुम नारी हो
जननी हो, श्रद्धा हो,
ममता, करूणा, त्याग, दया की मूर्ति हो,
आदिशक्ति हो, आराध्या हो,
स्वत्व-पराजित मनुष्य के
पौरुष की चिन्मयी शक्ति हो।

तुम्हारे चरणों में बैठकर
आराधना करता है
साधना की शक्ति प्राप्त करता है
मंगलकारी रूप धरता है
तुम्हारे बिना तो वह
शिव से शव बन जाता है।

मंदिरों में प्रतिष्ठित
सैकड़ों मूर्तियों के समक्ष
नतमस्तक होता हुआ
भावनाओं के हार पिरोता हुआ
जीवन-शक्ति प्राप्त करने की लालसा लिए
यह लघु जीव
आस्थाभरी नज़रों से
तुम्हारे कदमों में
बैठ चुका है

अपने भावों का समर्पण
कर चुका है।

आँखें खोलो अपनी
उसे अकाल मृत्यु मत दो
जला दो उसके हृदय का दीप भी
'स्नेह' से भरकर– ताकि
वह भी इस संसार की डगर पर
इंसान की तरह चल सके।

रिश्ता

मशीन (कार),
घोड़ा
और मनुष्य–
तीनों के कर्म एक जैसे हैं
संज्ञाओं को एक जगह से दूसरी जगह पहुँचाना,
मशीन– मनुष्य को
घोड़ा– वस्तु तथा मनुष्य को
और
मनुष्य– ज्ञान तथा भावना को।
पर तीनों एक नहीं हैं
इसलिए उनकी कद्र भी
अलग-अलग रूपों में की जाती है।
आज का मनुष्य
मशीन का गुलाम है तो
घोड़ों का स्वामी।
कहीं न कहीं
रिश्ता तो बचा है
इन तीनों के बीच
पर मनुष्य का मनुष्य के साथ
कोई रिश्ता ही नहीं बचा।

यह कैसा सन्नाटा है

यह कैसा सन्नाटा है
बिखरा हुआ यहाँ पर–
जहाँ लोग रहते हैं,
हँसने, मुस्कुराने और क़हक़हे लगाने के लिए
पर यहाँ लोगों के चेहरे पर
एक अज्ञात भय के विषाद की
छाया व्याप्त है।
भयभीत हैं ये लोग
लोगों से, लोगों की नज़रों से
इनके भीतर के पशुत्व की बर्बरता से
जिसने जीवन को चीरकर
लहूलुहान कर दिया है।
लोग दुबके पड़े हैं
अपने-अपने घरों में महफ़ूज़
इनसे लड़ने,
लड़कर सन्नाटा भंग कर
मुस्कुराहट बिखेरने वाली शक्ति को
दफ़ना दिया है
अपने हृदय के क़ब्रगाह में।
यत्र-तत्र-सर्वत्र।
'मानव-बम' के विस्फोट का

ख़तरा मँडराता है
चाहे चलती ट्रेन हो
चाहे सर्व-शक्तिमान
ईश्वर का मंदिर,
चाहे 'अक्षरधाम' हो
चाहे 'संकट-मोचन'
'देश का घर' हो या
आम आदमी का
'विश्व-व्यापार-केंद्र' या
शहर-गाँव की मंडी।
आज मनुष्य की अनंत बौद्धिकता ने
किसी को नहीं है छोड़ा
जिसको जहाँ है पाया
वहीं गर्दन मरोड़ा.
अफ़रा-तफ़री मची हुई है
बुद्ध-गांधी की
इस पावन धरा पर
यह कैसा सन्नाटा है
बिखरा हुआ यहाँ पर?

गीत प्यार के गाएँगे

उसके भाव, निष्ठा और समर्पण
जगाते हैं हृदय में
शाश्वत प्रेम के भाव,
जिससे जल उठता है
रोशनी का दीप
झिल-मिल
मेरे अभावग्रस्त जीवन में।

दिन कट जाएँगे
इसकी रोशनी में
मंज़िल पा लूँगा
डगमगाते क़दमों के सहारे
आसमान छू लूँगा
जहाँ चमकते हैं सितारे
झिल-मिल
साथ चलेंगे जब
हम दोनों हिल-मिल।

नए सृजन की
संभावनाएँ साकार होंगी,
जीवन ऊर्जस्वित हो जाएगा

गिरकर उठने की ताक़त मिल जाएगी
जब स्नेह का संबल मिल जाएगा
प्रेरणा से उसकी
श्रम का नया विश्वास जागेगा
जीवन से आलस्य मिटेगा।

श्रम की शक्ति जब जागेगी
तिनका-तिनका चुनकर तब
झोंपड़ी बन जाएगी जिसमें
महलों का सुख मिल जाएगा।

श्रम के साधक बन जाएँगे
नई चेतना हम लाएँगे।
होगा यह संकल्प हमारा
बंजर धरती में भी हम
स्वर्णिम पुष्प खिलाएँगे
हरे-भरे फल-फूलों वाले
छाया के वृक्ष लगाएँगे
जब साथ चलेंगे हम दोनों
और गीत प्यार के गाएँगे।

शब्द

शब्द होते नहीं
कठोर या कोमल
होती है कड़वाहट या मिठास
उनकी अर्थवत्ता में
जिनमें छिपी होती हैं
सच्चाईयाँ.......यथार्थ।
सच और यथार्थ
नंगे होते हैं,
इन्हें इनके असली रूप में नहीं
देखा जा सकता।

ज़रा सोचो

खोने के लिए भीड़
पाने के लिए एकांत
खो मत जा
भीड़ में मेरे दोस्त।
निवेदन है तुमसे
मत भूलो साथ निभाने का
साथ चलने का
मत झटको बाँहें
साथ छुड़ाने के लिए
रोकूँगा नहीं तुम्हें
लेकिन क्या होगा तुम्हारे दोस्त का
तुम्हारे दोस्तों के देश का
ज़रा सोचो .....!!..

कंकाल में लगी आँख

उनका ढंग ही अनोखा है
शोषण करने का
जिसमें कंकाल तो बच जाता है
आत्मा नहीं।
कंकाल में लगी आँख
देख रही होती है
अपने सगे-संबंधियों की
हो रहा काया-पलट।
उनका स्वरूप मौन होता है
शब्दों का संचय कर
वे भी पूँजीपति बन जाते हैं
और अनोखे अंदाज़ में
लूटते हैं उन्हें
फेंकते हैं आश्वासनों की
सूखी रोटियाँ कभी-कभार
इसी में बूझता है वह
उन्हें अपनी बिरादरी का।

जिन्हें होश है

मैं भी एक अजीब जीव हूँ
तरस खाकर वे
थोड़ी देर के लिए
मुझे भली निगाहों से देख
जुड़ा लेते हैं अपनी आँखें
और हिया।
फिर भाव आता है
चेहरे पर उनके– 'बेचारा है'
आख़िर था कभी वह
अपने ही बीच का।

सोचता हूँ,
तब मुझे अपनाना उनकी मजबूरी थी
और आज
छोड़ना।

विश्वास करना होता है
यहीं पहुँचकर–
जो होना होता है, वही होता है

और निराशा ग्रस लेती है मुझे
फिर शुरू हो जाता है–
द्वंद्वों में फँसना, उलझना
गुड़ी-मुड़ी हो जाना
और तब वाहियात ख़्यालातों का
अंबार इनका होने लगता।
कैसे मुक्त होऊँगा इससे?

मिल सकती है मुक्ति
भान होता ऐसा
किंतु 21 वीं सदी के भारतीय समाज में
जहाँ चमड़ी-दमड़ी, जात-पाँत
ऊँच-नीच, श्रेष्ठ-पतित जैसे
ज़हरीले विष पिए लोग
होश गँवा चुके हैं
मानव को मानव समझना भूल चुके हैं
जिन्हें होश है भी
उनकी आत्मा मर चुकी है।

लेकिन मैं उठूँगा
उठकर भागूँगा
भागना चाहता हूँ मैं
पर क्या सिर्फ़ चाह
कोई मायने रखती है?

फिर वही सवाल
हाँ दोस्त

गला दबोचने
आगे बढ़ता है।
क्या करूँ?
वे आगे बढ़ रहे हैं
मैं पीछे छूट रहा हूँ
अब उनके हाथ आश्वासन की
मुद्रा में हिल रहे हैं
पता नहीं
उन हाथों को
थाम सकूँगा या नहीं
नहीं जानता
यह तो उन लोगों पर निर्भर है
जिनके बीच
मैं कभी था...।

सृष्टि का श्रृंगार

क्यों बैठा रे अबोध!
यह कोई बोध-प्राप्ति का स्थल नहीं
यहाँ सिवा पत्थर की निर्जीव मूर्ति के
तुम्हें कुछ नहीं मिलेगा।

वे युग, वे काल बीत गए
जब तुम्हारी आस्था
पत्थर की इन मूर्तियों में
ब्रह्म के प्रति होती थी।
अब तो चिंतन-धारा ही बदल गई है
मस्तिष्क भ्रमित हो गए हैं
अंतःचक्षुओं की ज्योति क्षीण हो गई है
आस्था के आयाम टूट गए हैं
अस्तु वे मूर्तियाँ पत्थर और केवल पत्थर की
रह गई हैं।

उठो, आगे बढ़ो
वहाँ जाओ जहाँ
केवल प्राकृतिक उपादान हैं

सिर्फ़ वे ही तुम्हारी
निश्छल भावनाओं का
नित नवीन अनुभूतियों का
अभिनंदन करेंगे
और तब तुम अबोध से
प्रबुद्ध बन पाओगे
और पत्थर की
इन्हीं मूर्तियों को प्राणवान कर
सृष्टि का श्रृंगार कर पाओगे।

भागीरथी

हे भागीरथी!
तुम उतरी थीं धरा पर
भगीरथ के अनेक प्रयासों से
भटकती आत्माओं को
मुक्ति भी दिलाई थी
उनके पूर्वजों को।
प्रवाहित होती हुई हज़ारों-हज़ार सालों से
सींचती रही जीवन भारतीयों का
बुझाती रही प्यास धरती-पुत्रों की
देती रही जीवन उन्हें
बसाए शहर
बनाई संस्कृति
और दी पहचान भी।

पहचाना धरती-पुत्रों ने भी तुम्हें
तुम्हारी शक्ति और महत्त्व को
और संज्ञा दी तुम्हें– 'माँ' की
संबोधित किया तुम्हें–
पतितपावनी,

जीवनदायिनी
मुक्तिदायिनी...

और न जाने क्या-क्या!!!

पर आज तुम्हारा धरती-पुत्र
वह नहीं रहा-
हो गया वह विज्ञान का ग़ुलाम
भूल गया तुम्हें
तुम्हारी महानता,
पवित्रता और असीम शक्ति को
इसके स्पर्श से
आज तुम्हारा सब-कुछ
क्षीण हो गया और तुम हो गईं प्रदूषित।

एक प्रश्न पूछूँ...?
क्या तुम क्षमा कर पाओगी इन्हें
अपना ही पुत्र समझकर
या दोगी फिर शाप?
ताकि पश्चात्ताप की अग्नि में
जलते रहें ये और
दे सकें अपनी भावी पीढ़ी को
जीवन का नव-संदेश।

आत्म-बोध

ओ पथिक!
जग के चौराहे पर भीड़ देख
घबरा गए क्या?
जग का यह चौराहा
क्या तुम्हें भूल-भुलैया प्रतीत होता है?
नहीं पथिक, नहीं।

गंतव्य के मार्ग में
यह चौराहा
विवेक, ज्ञान, जागृति तथा
आवरल गतिशील रहने की
परीक्षा-हेतु
एक हवन-कुंड है
जिसकी परिधि की परिक्रमा
सभी को करनी पड़ती है।
पर जिनके नेत्र
पथ की थकान से
बोझिल हो जाते हैं ..
वे या तो इसी हवन-कुंड की
आहुति बन जाते हैं

या परिक्रमा के पूर्व
दिशा-बोध की तमिस्रा में पड़कर
गंतव्य और मार्ग भूल जाते हैं।
किंतु ओ पथिक!
तुम्हें रुकना नहीं है
'कर्मण्येवाधिकारस्ते' की
भावना से प्रेरित होकर
सत्य दिशा-बोध के प्रकाश में
जग की इस भूल-भुलैया के
उस पार जाना है
मंज़िल सन्निकट है और
तुम्हारी ही प्रतीक्षा है उसे।

दौड़ जारी रहेगी

ज़िंदगी एक दौड़ है–
भयानक दौड़
गिरते–पड़ते, सँभलते–सँभालते
उठते–बैठते दौड़ रहे हैं लोग।
कभी आती है
उनके चेहरे पर मुस्कान तो
कभी न मिटनेवाली थकान।
मैं भी शामिल हूँ
इस दौड़ में
जिसमें लगती हैं
ठोकरें राह की
चुभते हैं काँटे पल–पल
बिलबिला जाता हूँ
उनकी चुभन से
और दर्द जब पार कर जाता है
सीमा अपनी कभी, तो
किसी मशहूर शायर की
एक ख़ूबसूरत पंक्ति याद आ जाती है
'दर्द हद से बढ़ने पर दवा बन जाता है'
दवा का रूप क्या होता है

यह मैं तो नहीं समझ पाता
शायद, मौत ही होती होगी।

एक प्रश्न उठता है–
दौड़ किसने नहीं लगाई ज़िंदगी की
राम, कृष्ण, हज़रत, ईसा या
हिटलर, लूथर, मंडेला, कलाम
सबने तो दौड़ लगाई ही थी
ज़िंदगी की
शामिल हुए थे ज़िंदगी की इस दौड़ में
सफल भी हुए और
गाए गीत कामयाबी के
पवित्र किया मानवता को,
मंत्र-समान विचारों से
स्थापित किए आदर्श
मनुष्य के लिए,
स्थिर किए मानदंड
ज़िंदगी की दौड़ के।
पुनः प्रश्न उठते हैं
किंतु एक ही उत्तर के साथ–
क्या थी इनकी प्रेरणा?
कैसी थी इनकी इच्छा-शक्ति?
कैसी थी इनकी आस्था जीवन के प्रति?

उत्तर– संघर्ष .. संघर्ष.. और केवल संघर्ष।

पर मैं सोचता हूँ

इस संघर्ष के लिए
अदृश्य प्रेरणा का
आलोक तो चाहिए ही
किंतु यहाँ जिधर देखता हूँ
लोग तो दिखाई देते हैं
पर बबूल के साए में
जहाँ न छाया है, न जीवन
न आशा है, न विश्वास
वहाँ रूठने लगती है मेरी आस
काश! कोई सहारा दे दे
सोचता हूँ।

हथेलियाँ जब बँधती हैं, तो
मिलता है बल एकता का
जानता नहीं है कौन
फिर जब आता है वक़्त
लोग क्यों साध जाते हैं मौन?

क्या करूँ?
जारी रखता हूँ अपनी दौड़
थककर, हारकर, टूटकर
क्योंकि पूरी तो करनी ही है
अपनी यह दौड़
चाहे जैसे भी हो
यह दौड़ जारी रहेगी
अंतिम साँस के उखड़ने तक।

चिड़िया की औक़ात

मैं एक चिड़िया हूँ
बहुत छोटी-सी
चकहना चाहती हूँ
चहक-चहककर
विस्तृत घने वन में
शोर मचाना चाहती हूँ।
लोगों को आगाह करना चाहती हूँ
कि दूर क्षितिज पर
अरुणोदय होने वाला है
अंधकार छटने वाला है
चेतना जगने वाली है
खुशियाँ आने वाली हैं
बग़िया महकने वाली है
सुगंध बिखरने वाली है
विध्वंस होने वाला है
सृजन की संभावना है।

पर यह मुझे क्या होने लगा?
मूर्च्छा क्यों आने लगी?
मेरे डैनों में

चुभन-सी क्यों होने लगी है?
लगता है किसी के हृदय की
करुणा, दया और कोमल दृष्टि
सो गई और
काट डाले उसने पर,
छीन ली उसने
उड़ान की शक्ति मेरी।
दर्द से बिलबिला उठी हूँ मैं
चहकने का सपना मेरा
टूटकर बिखर गया है,
जिससे मैं ख़ुद सुख पाकर
दूसरों के प्रति अपना कर्तव्य
पूरा कर सकूँ।
सच तो यह है दोस्त
सूरज निकलेगा ही
भले ही मैं न रहूँ
क्योंकि मेरी औक़ात बहुत छोटी है।

ग़रीब आदमी का दर्द

ग़रीब आदमी का दर्द
सुनता है कौन
अपनी लाचारी और बेबसी की
कहानी सुनकर
वह हो जाता है मौन,
ताकि सुन सके वह लोगों के क़हक़हे
और ढूँढ सके उन क़हक़हों के बीच
अपनी खुशी।
लेकिन क्या यह इतना आसान है
समाज की दकियानूसी
कँटीली झाड़ियों के बीच
फँस गई उसकी जान है
फिर भी वह मानता है कि
दुनिया बड़ी महान है।
और ऐसे ही लोग इस दुनिया की शान हैं
जिनकी सजी बड़ी-बड़ी दुकान है
उन दुकानों के मालिक बने ये लोग
क्यों सुनेंगे उस ग़रीब का दर्द
चेहरा हो जाता है उसका सर्द
खड़ा होकर दुकान की सीढ़ियों पर

आस जगा लेता है
टकटकी निगाहों से सजी दुकान देख
सपना सजा लेते हैं
क्यों उनके कोमल और संपन्न हाथ
छू लेंगे उसके कंधों को
दे देंगे थोड़े सहारे का विश्वास
चमक उठतीं उस ग़रीब की आँखें
पर वे हाथ उस ग़रीब के कंधे तक
आते-आते रह जाते हैं
उसके शरीर की बदबू घुस जाती है
उनके सुगंधित जिस्म के वस्त्रों में।
फिर अचानक सुनता है एक फटकार
क्यों खड़ा है यहाँ नाहक
इस दुकान की सीढ़ियाँ तुम्हारे लिए नहीं हैं
इतनी लंबी-चौड़ी सड़क पर
आते-आते लोग
क्या तुम्हें नहीं दिखते।
इतना सुन वह
यह सोचकर हो जाता मौन है
इस दुनिया में
ग़रीब का दर्द
सच-मुच यहाँ सुनता कौन है?

एक तारा आकाश में

एक तारा था आकाश में
अपनी परछाईं झील में देखकर
सोचता था
ब्रह्मांड में कोई दूसरा आकाश है
जिसमें मेरी तरह ही तारे हैं।

एक तारा था आकाश में
स्वभाव से अंतर्मुखी
अपने स्वार्थ की ही चिंता
सदा सताती थी उसे
अपना कोरा प्रकाश रजनी को देकर
सूर्य कहलाने का दंभ भरता था।

एक तारा था आकाश में
खुद को किसी साड़ी में
टँका बूटा समझता था
किसी सुंदरी के तन का परिधान बनकर
सौंदर्य बढ़ाने-हेतु सदा तरसता था।

एक तारा था आकाश में
सूर्य की किरण पड़ते ही
गगनांगन में विलीन हो गया
उसका स्वप्न ही रह गया
कोई रोने वाला भी न रहा।

अकिंचन

पुराने खंडहर की
टूटी कोठरी में
पड़ी खाट पर
पड़ा अकिंचन
कभी चिंहुक उठता है
शायद उसका मर्ज़ गहरा है
मर्ज़ चाहे कुछ भी हो किंतु
उसके प्रति लोगों की भावनाएँ
भिन्न-भिन्न रूपों में प्रकट हुईं
भावनाओं का ब्योरा ही
उसके उज्ज्वल भविष्य का
यम बन गया, क्योंकि
किसी ने भी उसके
मनोनुकूल मत प्रकट नहीं किया।

स्नेह तो डालने दो

अंधकारमय पथ जीवन का
एक लघु दीपक की
रोशनी की तलाश में
भटकता राही
पाँवों में काँटों की चुभन–
दर्द सहता रहा
पाँवों से बहते
लहू की धार देखता रहा,
पर हिम्मत नहीं हारी
घूमता–भटकता दर–दर की
खाक छानता रहा,
रोशनी की तलाश में ताकि
देख सके काँटों को,
जो बिखरे पड़े हैं उसके पथ में
बीनकर हटा सके उन्हें
और एक नया पथ बना सके
पीछे आने वाले राहगीरों के निमित्त।

दीपक तो अनगिनत मिले
जिन्हें जलाकर रोशनी बिखेरनी चाही

पर नेह के अभाव में मिले दीपक
एक-एक कर बुझते गए
अंधकार बढ़ता गया
आस्था टूटती गई
आस्था तोड़ने के ही तो
सारे प्रयास किए हैं लोगों ने
प्रज्वलित दीप की ओर बढ़ते क़दमों को
ग़लत समझ
लोग चिल्लाते हैं,
शोर मचाते हैं,
डरकर भागना चाहते हैं,
भाग नहीं पाता
वह तो उस दीपक की रोशनी में
अपने शरीर के घावों पर
मरहम लगाना चाहता है।

दीपक बुझे नहीं, जलता रहे
और लोगों को प्रकाश मिलता रहे
चीख़-चीख़कर वह
लोगों को कहना चाहता है–
यह दीप जो आज जल रहा है
कल सूरज बननेवाला है
अंधकार हटनेवाला है
उसे इस दीप में 'स्नेह' तो डालने दो।

मिठास की चाह

कहीं ऐसा तो नहीं कि
मैं हवाओं में पर तोल रहा हूँ
तुम सुनना नहीं चाहतीं
और मैं बोल रहा हूँ।
करो रुख़ कभी अपना भी
इस घर की तरफ़
इसलिए अपने घर के
दरवाज़े खोल रहा हूँ,
ज़िंदगी के शरबत का
गिलास भरा तो है
पर उसमें मिठास नहीं
उसमें मिठास आए
इसलिए उसमें और
चीनी घोल रहा हूँ।

मेरा चाँद तो

गगन का चाँद आता है
मुस्कुराता है
धरती के लोगों के चेहरे पर
चाँदनी छिटकाता है
शीतलता बरसाता है
बच्चे, जवान, बड़े, बूढ़े–
यूँ कह लो
संपूर्ण चराचर के लिए
नई ज़िंदगी लाता है।

वह अपना कर्त्तव्य नहीं भूलता कभी
यही उसकी लय
और यही उसका छंद है
पर मेरा चाँद तो
दरवाज़े के पीछे बंद है।

ज़िंदगी कभी नहीं हारती

सुनामी के कहर से
कराह उठी ज़िंदगी
एक बार फिर मौत के ख़ौफ़ को भूल
समुद्र-तट पर
उत्कट जिजीविषा के साथ
लेने लगी है साँस
देखने लगी है
लहरों का उठना और गिरना।

खड़ी हो गई है
फिर सागर-किनारे
जहाँ निहारती है वह
उन छोटी-छोटी
उठती-गिरती लहरों को
जो एक दिन अचानक
हो गई थीं विकराल
जैसे मुँह फाड़े
सामने सहसा खड़ा हो गया हो काल।

दिखाकर भयानक तांडव मौत का
जब लहरें सागर के गर्भ में समा गईं
तब मुर्छा टूटने की तरह
ज़िंदगी एक बार फिर
सागरतट पर आ खड़ी हुई।

ज़िंदगी कभी नहीं हारती।

आँसुओं की भाषा

वह अबोध है
अक्षरों की भाषा सीखना ही
ध्येय है उसका,
आँसुओं की भाषा
समझ से परे है उसकी,
सुना है उसने–
'आँसुओं की भाषा समझने से
पथ विचलित हो सकता है
जीना है इस संसार में तो
सीखो अक्षरों की भाषा
प्रयास तुम्हारे सफल होंगे
पूरी होगी हर अभिलाषा'।
क्योंकि भाषा आँसुओं की
जगाएगी हृदय में
दया, करुणा और प्यार के भाव
जिसकी आज कोई ज़रूरत नहीं।

यथास्थितिवाद का पोषक
यह समाज
बदलना नहीं चाहता

अपने-आपको
तभी तो तर्क पेश करता है–
क्या मिला
बुद्ध, गांधी, हज़रत और ईसा को?
कर दी हत्या अपने ही लोगों ने उनकी
जिनके लिए ही
सब-कुछ छोड़ दिया था अपना
दिव्य आँखों से
जीवन देखनेवालों का हश्र
यही होता है।

आज उन्हीं बुद्ध-गांधी की यह पावन धरती
लहू से लाल हो चुकी है
अक्षरों की भाषा सीख उनकी संतान
भले ही चाँद-तारों पर जा चुकी है,
लेकिन आँसुओं की जो भाषा
पाषाण हृदयों को पिघला सकती है
उनकी ही संतान
आज वह भाषा भुला चुकी है।

नियति

बाहर चाँदनी का सागर
उठता ज्वार-भाटा खुशियों का
भीतर अंधकार का अंतहीन साम्राज्य
उभ-चुभ करता मन
आना चाहता है बाहर
ज्वार-भाटा के दर्शन को।

सैलानियों का उमड़ता सैलाब
आतंकित करता है उसे
मजबूर है वह
अंधकार के उस अंतहीन साम्राज्य में
नाली के कीड़े की तरह कुलबुलाने को।

लेकिन आएगा वह
ज़रूर आएगा
यहाँ नहीं तो अन्यत्र कहीं
जाएगा वह ज़रूर जाएगा
रेंगकर ही सही
मुक्त होगा
आज नहीं तो
कल ज़रूर
रेंगना ही तो उसकी नियति है।

दु:ख या सुख

दु:ख या सुख
नियम है सृष्टि का
और निराश होता है मानव
इन दोनों की चरम स्थितियों में।
यह तब होता है
जब वह गिरता है मानवता के ऊपर।
वही तो हमारे व्यक्तित्व की नियामक है
आधार पर जिसके
उस महान दार्शनिक अरस्तू ने
मानव को संज्ञा दी थी
पशुओं से पृथक्
और कहा था उसे सामाजिक।
किंतु आज मानव है, मानवता नहीं
समाज है, सामाजिकता नहीं।

गीत प्यार का गाएँ हम

गीत प्यार का गाएँ हम
ज्ञान, दया और करुण-भाव से इस जीवन को सजाएँ हम।

फूल हँस रहे उपवन-उपवन,
भौंरे भी गुंजार करें।
इसी तरह हम भारतवासी,
मिलजुल प्रेम-प्रवाह करें।
ऊँच-नीच का भेद भुलाकर सबको गले लगाएँ हम।

कुछ हैं शिक्षित, शेष अशिक्षित,
हम बच्चों के भाव परीक्षित।
भविष्य देश का निर्भर हम पर,
है विकास पर यहाँ प्रतीक्षित।
जन-जन की साक्षरता हेतु, साक्षरता दीप जलाएँ हम।

कर्म ही शक्ति, कर्म ही पूजा,
कर्म विचार का पुंज बने।
कर्मप्रधान हो जीवन सबका,
कर्म ही ज्योतिपुंज बने।
बिना कर्म के जीवन सूना, सबको पाठ पढ़ाएँ हम।

कहते हैं हर प्रकार के अभाव को पूरा करने के प्रयास में मनुष्य जब जी-जान से भिड़ जाता है तो उस अभाव को दूर कर खुशियाँ बटोर ही लेता है। इसलिए उन शाश्वत जीवनमूल्यों के अभाव को आज दूर करने के लिए हमें अपनी इच्छाशक्ति को दृढ़तम करना ही पड़ेगा और प्राणपण से भिड़ जाना होगा। एक नन्हे दीपक की भाँति अंधकार के साम्राज्य को चीरकर रोशनी फैलाने का दुस्साहस करना ही होगा। जैसे वह नन्हा दीपक हवा के झोंके से बुझने की परवाह किए बिना अपनी ताक़त-भर रोशनी फैलाता रहता है, वैसा ही प्रयास हमें भी करना पड़ेगा। हमारे लिए कुछ भी असंभव नहीं है। मनुष्यता के कल्याण के लिए हमें अपनी इच्छाशक्ति को हिमालय की तरह अटल करना होगा। हमें सपने देखने होंगे, उन्हें ठोस विचार में ढालकर कार्यरूप देना पड़ेगा।

अति बौद्धिकता के कारण आज समाज में जो संवेदनशून्यता का वातावरण बन गया है, उनके कारणों की तलाश करता मेरा कवि जीवनमूल्यों को पुनर्प्रतिष्ठित करने की लालसा लिए अपनी कविताओं का सृजन करता है।

'हर वृक्ष महाबोधि नहीं होता' मेरा प्रथम काव्य-संग्रह है, जिसमें लगभग पिछले दो दशकों की कविताएँ सम्मिलित हैं।

—महेंद्रकुमार



महेन्द्रकुमार



हिन्दी साहित्य निकेतन

16, साहित्य विहार, बिजनौर (उ.प्र.)